आर्यसमाज स्थापना-शताब्दी-वर्ष पर विशेष लेख

शैक्षिक आलोक : महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का योगदान

—प्रो० प्रेमचन्द्र गुप्त, शास्त्री, एम० ए०,

महर्षि दयानन्द सरस्वती वैदिक वाङ्मय, धर्म, संस्कृति एवं दर्शन के मनीषी, वेदों और आर्षग्रन्थों के समर्थक, आर्यसमाज के संस्थापक, धर्म-प्रचारक, प्रसारक एवं संशोधक, समाज सुधारक तथा देशोद्धारक, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय चेतना और जागरण के प्रेरक तथा राष्ट्र भाषा हिन्दी के उद्धारक के रूप में अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके ये विचार आज एक ओर उनके ग्रन्थों में पढ़ने को मिलते हैं तो दूसरी ओर आर्यसमाज और उसके कार्यों में देखने को मिलते हैं।

स्वामी जी वेदों के अपूर्व विद्वान् और मर्मज्ञ थे। उन्हें वैदिक दर्शन ही मान्य था। वैदिक दर्शन स्वयं में भिन्नताओं का योग है—द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत और बहुत्ववाद आदि सभी वैदिक दर्शन हैं। अतएव उन्होंने वैदिक दर्शन के मूल तत्त्वों की व्याख्या भी की है।

महर्षि दयानन्द के दार्शनिक विचार

स्वामी जी ईश्वर, जीव और प्रकृति को अनादि मानते थे। उनके अनुसार 'ईश्वर' सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त है। उसके गुण, कर्म और स्वभाव पवित्र हैं। वह सर्वज्ञ, निराकार, सर्व व्यापक, अजन्मा, अनन्त, सर्वशाक्तिमान्, दयालु, न्यायकारी, सृष्टि का कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता और जीवों को सत्य न्याय से फलदाता आदि लक्षणयुक्त है तथा उसके ब्रह्म, परमात्मादि नाम हैं।

'जीव' अनेक, नित्य एवं ईश्वर से भिन्न एक परिच्छिन्न चेतन पदार्थ है, जो अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुख एवं ज्ञानादि गुणयुक्त है।

'प्रकृति' जड़ पदार्थ और जगत् बनाने की सामग्री है, जो नाना द्रव्यों के रूप में दिखाई पड़ती है।

'पदार्थ' दो प्रकार के होते हैं—नित्य और अनित्य। ईश्वर, जीव, प्रकृति तीनों 'नित्य' पदार्थ हैं क्योंकि इनका न आदि है न अन्त है। जगत् स्वरूप से 'अनित्य' है, क्यों कि यह उत्पन्न होकर नियत काल तक रह कर विनष्ट हो जाता है।

ईश्वर की उपर्युक्त व्याख्या के कारण कुछ विद्वानों के अनुसार स्वामी जी अद्वैतवादी, जीव को ईश्वर से भिन्न मानने के कारण द्वैतवादी तथा ईश्वर जीव प्रकृति को अनादि मानने के कारण त्रैतवादी थे।

'सृष्टि-रचना' के विषय में भी स्वाभी जी के विचार औरों से भिन्न थे। वे 'ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता तथा मुख्य निमित्त कारण, 'प्रकृति' को सृष्टि-निर्माण-सामग्री और उपादान कारण, 'जीवात्मा' को साधारण निमित्त कारण मानते थे। उनके अनुसार ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, उसमें उत्पादक और विनाशक दोनों शक्तियां स्वाभाविक अर्थात् अनादिकाल से हैं। वह अपनी इसी स्वाभाविक शक्ति से जगत् का सृजन, पोषण और नियमन करता है। "ईश्वर ही जीवात्मा की शक्तियों के पूर्ण विकास अर्थात् उसके कर्मों के फल-भोग और परमानन्द (मुक्ति) की प्राप्ति-हेतु सृष्टि की रचना करता है।"

स्वामी जी के अनुसार मनुष्य जीवन का अन्तिम उद्देश्य 'मुक्ति' है। 'मुक्ति' से उनका तात्पर्य जीवात्मा को इस भौतिक शरीर से छुटकारा दिलाना है। जीवात्मा इस भौतिक संसार में ही सांसारिक सुख-दुःखों का भोग करता है। इससे मुक्त होने पर ही वह सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होकर 'मुक्ति' के आनन्द को भोगता है। मुक्ति के साधनों में वे नैतिक गुणों के विकास अर्थात् स्तुति, प्रार्थना, उपासना, धर्माचरण, सत्संग, तीर्थसेवन, परोपकार, पुण्य कर्म तथा दुष्ट कर्मों से अलग रहने आदि पर अधिक बल देते थे।

'मुक्ति' के इन साधनों की व्याख्या भी उन्होंने अपने ढंग से 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' और 'सत्यार्थ प्रकाश' के अन्तर्गत 'स्वमन्तव्यामन्तव्य प्रकाश' में की है। उनके अनुसार 'स्तुति' का तात्पर्य ईश्वर के गुणों का ज्ञान, कथन और श्रवण करना है, जिससे ईश्वर में प्रीति और उसके गुण, कर्म, स्वभाव से अपने गुण, कर्म और स्वभाव को सुधारने का फल होता है। 'प्रार्थना' का अभिप्राय उत्तम कार्यों की सिद्धि के लिए अपने पूर्ण पुरुषार्थ के उपरांत ईश्वर के अधीन होना है। 'उपासना' का अर्थ ईश्वर के ही आनन्द स्वरूप में अपनी आत्मा को लीन कर देना है। तीर्थ-सेवन' का तात्पर्य विद्याभ्यास, सुविचार, ईश्वरोपासना, धर्मानुष्ठान, सत्संग, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-निग्रह आदि उत्तम कर्म करना है। 'परोपकार' का आशय दूसरे प्राणियों के

सुख हेतु तन, मन, धन अर्थात् सम्पूर्ण सामर्थ्य से कार्य (प्रयत्न) करना है। 'पुण्य कर्म' का अर्थ विद्यादि शुभ गुणों का दान, सत्यभाषण तथा सद्व्यवहार करना है।

स्वामी जी 'पुनर्जन्म' में विश्वास करते थे। उनके अनुसार जीव अपने कर्मानुसार नाना योनियों में अनेक बार जन्म लेता है। वे स्वर्ग-नरक को लोक अथवा स्थान विशेष नहीं मानते थे। वे जीव को उसके पुण्य कर्म के फलस्वरूप विशेष सुख और सुख-सामग्री प्राप्त होना ही 'स्वर्ग' मानतेथे। इसी प्रकार दुष्ट(पाप)कर्म के फलस्वरूप विशेष दुःख और दुःख-सामग्री प्राप्त होना 'नरक' कहते थे।

इस प्रकार उनके विचार बहुतत्त्ववादी थे, क्योंकि कि वे ईश्वर, अनेक जीव तथा अनेक पदार्थ को मूल तत्त्व मानते थे। 'प्रकृति' को मूलतत्त्व मानने के कारण कुछ चिंतक इन्हें प्रकृतिवादी, 'पदार्थ' के अस्तित्व को स्वीकार करने के कारण यथार्थवादी और 'भौतिक जीवन' की सुरक्षा हेतु कर्म प्रवृत होने एवं समाज-सुधार करने के कारण व्यवहारवादी कहते हैं, किंतु वास्तविकता कुछ और ही है। स्वामी जी की आस्था आत्मा और परमात्मा में थी। वे मानव-जीवन के अन्तिम उद्देश्य 'मुक्ति' को स्वीकार करते थे, इसलिए वे आदर्शवादी थे। भारतीय आदर्शवाद तो भौतिक संसार को भी सत्य मानता है और सामाजिक सुधार मनुष्य का नैतिक कर्त्तव्य बताता है। हां, प्रत्ययवादी (विचारवादी)अवश्य ही पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं और संसार को केवल विचारजन्य अभिव्यक्ति ही मानते हैं। अतः यह कहना अधिक समीचीन होगा कि जीवन के प्रति स्वामी जी का दृष्टिकोण विशुद्ध आदर्शवादी था।

महर्षि दयानन्द के शैक्षिक विचार

वैदिक दर्शन की विवेचना, धर्म-प्रसार और समाज-सुधार के साथ-साथ शिक्षा के क्षेत्र में भी महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का विशेष योग-दान है। इनकी उपलब्धियों का विशेष स्थान है।

स्वामी जी प्राचीन भारतीय शिक्षा पद्धति के प्रबल समर्थक और अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के घोर विरोधी थे। वे बालक को शीघ्रातिशीघ्र ज्ञानी बनाने के पक्ष में थे। इसलिए उन्होंने 'आचार्य कुल' और 'गुरुकुल' पद्धति को पुनर्जीवित कर प्राचीन परम्परानुसार वेद, उपनिषद्, स्मृतियों तथा अन्य जीवनोपयोगी ज्ञान-विज्ञान एवं कौशलों की शिक्षा की आवश्यकता पर बल दिया। इसको व्यावहारिक रूप देने हेतु ही उन्होंने ज्येष्ठ सं० १९२५ में कासगंज (फरूखाबाद) में तथा पौष सं० १९२५ में फरूखाबाद में संस्कृत पाठशाला, ज्येष्ठ सं० १९२७ में मिर्जापुर में वैदिक पाठशाला, पौष सं० १९३० में केदारघाट, काशी में सत्यशास्त्र पाठशाला तथा आषाढ़

स० १९३१ में काशी में आर्य विद्यालय आदि स्थापित किया।

लार्ड मैंकाले ने जिस अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के सहारे भारतीयों के मन और मस्तिष्क को सदा के लिए दास बनाने का षड्यंत्र रचा था, स्वामी जी द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने अपने गुरुकुल, डी० ए० वी० स्कूल-कालेज और आर्य-हरिजन पाठशाला खोलकर मैंकाले की योजना को असफल कर दिया। आधुनिक भारतीय शिक्षा में गुरुकुल पद्धति के जन्मदाताओं में स्वामी श्रद्धानन्द और स्वामी दर्शनानन्द तथा दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूलों-कालेजों के जन्मदाताओं में महात्मा हंसराज और लाला लाजपतराय प्रमुख थे। ब्रिटिश शासन से अनुदान प्राप्त किए बिना ही भारत-भर में फैली इन शिक्षण संस्थाओं पर आर्यसमाज प्रति वर्ष उस समय २० लाख रुपया व्यय करता था। आज तो इन संस्थाओं का आय-व्यय करोड़ से भी अधिक हो गया है। इन संस्थाओं में आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की उच्च-शिक्षा, धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, हिन्दी माध्यम, सामाजिक क्रांति और राष्ट्रीय जागरण आदि अनेक विशेषताएँ रहीं है। भारत से बाहर प्रवासी भारतीयों में भी वैदिक संस्कृति को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु ऐसी ही शिक्षण संस्थाओं को स्थापित कर आर्यसमाज ने अपने अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को और भी स्पष्ट किया।

गुरुकुल पद्धति के गुरु-शिष्य सम्बन्ध, नैतिक एवं संयत जीवन, सदाचार, आध्यात्मिकता, स्वतंत्रता, समानता, निर्भीकता, सहिष्णुता, स्वराष्ट्र, स्वभाषा, विश्वबन्धुत्व, सत्य, अहिंसा और शांति आदि अनेक तत्त्व, जिनका नेतृत्व शिक्षा में आर्यसमाज ने किया, उनका मूल स्रोत महर्षि दयानन्द की शैक्षिक विचार धारा थी। स्वामी जी के शैक्षिक विचारों को निम्नलिखित शीर्षकों के अंतर्गत स्पष्ट किया जा सकता है :—

१—शिक्षा का अर्थ

स्वामी जी ज्ञान और शिक्षा में भेद नहीं मानते थे। उनके अनुसार वह ज्ञान जिससे ब्रह्म, जीवात्मा और पदार्थों के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है तथा मनुष्य का ऐहिक एवं पारलौकिक—दोनों प्रकार का कल्याण होता है, शिक्षा है। वे शिक्षा को परिभाषित करते हैं—"जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मता, जितेन्द्रियता आदि की वृद्धि हो और अविद्या आदि दोष नष्ट हों, उसको शिक्षा कहते हैं।" इसी प्रकार "व्यवहारभानु" में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—'जिससे मनुष्य विद्यादि शुभ गुणों की प्राप्ति और अविद्यादि दोषों को छोड़कर सदा आन-न्दित हो सके, वह शिक्षा है।" स्वामी जी ने शिक्षा के लिए कहीं-कहीं 'विद्या' शब्द का भी प्रयोग किया है। उनके शब्दों में "विद्याविलासमनसो धृतशील-

शिक्षा" अर्थात् विद्या में विलास करने वाले मन का निर्माण करना शिक्षा है। वे 'विद्या' को भी परिभाषित करते है –"वेत्ति यथावत्तत्त्व पदार्थस्वरूपं यया सा विद्या।" अर्थात् जिससे पदार्थों का यथार्थ स्वरूप बोध हो, वह विद्या है। इसी प्रकार 'विद्या' और 'अविद्या' का अन्तर समझाते हुए लिखते हैं—'जिससे पदार्थ का यथार्थ स्वरूप जानकर उससे उपकार लेकर अपने और दूसरों के लिए सब सुखों को सिद्ध कर सकें, वह विद्या और जिससे पदार्थों के स्वरूप को उल्टा जान कर अपना और पराया अनुपकार करें, वह अविद्या कहलाती है।" वे 'विद्या' की व्याख्या एक अन्य ग्रन्थ में भी करते हैं—"जिससे ईश्वर से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त पदार्थों का सत्य ज्ञान होता है तथा उनसे यथा योग्य उपकार लेना होता है, उसका नाम विद्या है।" इस प्रकार ब्रह्म, जीवात्मा, और पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान विद्या है और इन्हें अन्यथा जानना अविद्या है। विद्या से कल्याण और अविद्या से विनाश होता है।

२—शिक्षा का उद्देश्य

स्वामी जी शिक्षा द्वारा यदि एक ओर व्यक्ति को भौतिक (लौकिक) जीवन के लिए तैयार करना चाहते थे, तो दूसरी ओर उसे पारलौकिक जीवन के लिए अग्रसर भी करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने जिन विचारों को अभिव्यक्त किया है उससे हम निम्नलिखित रूपों में शिक्षा-उद्देश्यों को क्रमबद्ध कर सकते हैं।

(अ) ज्ञान के विकास का उद्देश्य

स्वामी जी के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक यथार्थ ज्ञान, और दूसरा सद्ज्ञान। वे यथार्थ ज्ञान के अन्तर्गत भौतिक जगत् सम्बन्धी ज्ञान और सद् ज्ञान के अन्तर्गत ब्रह्म और जीवात्मा सम्बन्धी ज्ञान मानते थे। चूंकि वे भौतिक जगत् की यथार्थता स्वीकार करते थे, इसलिए वे सर्वप्रथम यथार्थ ज्ञान अर्थात् वस्तु-जगत् का ज्ञान प्राप्त करने को कहते थे। इस ज्ञान के अन्तर्गत वे पदार्थों का वास्तविक ज्ञान और मानव-कल्याण की दृष्टि से उनका प्रयोग, व्यावहारिक शिक्षा तथा आनन्ददायक क्रियाओं को महत्त्व प्रदान करते थे।

'सद्ज्ञान' को वे भौतिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए आवश्यक मानते थे। उनके अनुसार "सद्ज्ञान वह है, जिसके द्वारा ईश्वर और मोक्ष की प्राप्ति होती है।" सद्ज्ञान के अभाव में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष किसी की भी प्राप्ति संभव नहीं है। इसलिए वे सद्ज्ञान को ही शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मानते थे।

(ब) शरीरिक विकास का उद्देश्य

'शरीरमाद्यं खलु धर्म-साधनम्।' सुश्रुत के इस विचार को स्वामी जी

भी स्वीकार करते थे और बालक का शरीरिक विकास करना शिक्षा का उद्देश्य मानते थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने ब्रह्मचर्य-पालन, व्यायाम, खेल-कूद और यौगिक क्रियाओं पर विशेष बल दिया है।

'ब्रह्मचर्य' के महत्त्व पर उन्होंने स्पष्ट, लिखा है—"जिसके शरीर में सुरक्षित वीर्य रहता है, उसको आरोग्य, बुद्धि, बल, पराक्रम और अन्य सुखों की प्राप्ति होती है।............जिसके शरीर में वीर्य नहीं होता, वह नपुंसक, महा कुलक्षणी और जिसको प्रमेह रोग होता है, वह दुर्बल, निस्तेज, निर्बुद्धि, उत्साह, साहस, धैर्य, बल, पराक्रमादि गुणों से रहित होकर नष्ट हो जाता है।"

(स) सामाजिक विकास का उद्देश्य

स्वामी जी व्यक्ति के वैयक्तिक और सामाजिक विकास पर समान बल देते थे। इन दोनों का स्पष्ट संकेत उनके द्वारा निर्मित आर्य समाज के ६ठें, ७वें, ६वें और १०वें नियम में भी मिलता है। ६वें नियम में कहा गया है—"प्रत्येक को अपनी ही उन्नति में सन्तुष्ट न रहना चाहिए किन्तु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिये।" स्वामी जी के समय में समाज अनेक अंध विश्वासों एवं कुरीतियों से जर्जर हो रहा था, अतएव वे शिक्षा द्वारा व्यक्ति में ऐसी शक्ति का विकास करना चाहते थे, जिससे शारीरिक, आत्मिक एवं सामाजिक उन्नति सम्भव हो सके। इसीलिए उन्होंने व्यक्ति के लिए व्यक्तिगत कल्याण के साथ-साथ समाज-कल्याण के उद्देश्य को भी निश्चित किया था।

(द) सद्गुणों के विकास का उद्देश्य

स्वामी जी सैद्धांतिक ज्ञान को व्यर्थ मानते थे। वे ज्ञान द्वारा सद्गुणों अर्थात् कर्मशीलता, चरित्र, सदाचार, परोपकार और सत्यता आदि के विकास पर अत्यधिक बल देते थे। वे कहते थे कि सद्गुणों से युक्त मनुष्य ही अपना तथा समाज का कल्याण कर सकता है। उनके सभी ग्रन्थों में इस गुण के विकास पर बल दिया गया है। उन्होंने 'वाणी' के संयत प्रयोग पर लिखा है "क्रोधादि दोष और कटुवचन को छोड़ शांत और मधुर वचन ही बोलें और बहुत बकवाद न करें। जितना बोलना चाहिए –उससे न्यून या अधिक न बोलें।" उचित अभिवादन के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा—"बड़ों को मान्य दें। उनके सामने उठकर प्रथम 'नमस्ते' करें, फिर उच्चासन पर बिठावें।" इसी प्रकार, सभा या गोष्ठी में बैठने के ढंग पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने लिखा— "सभा में अपनी योग्यतानुसार स्थान पर ही बैठें, दूसरे किसी को न उठावें। विरोध किसी से न करें।"

३—शिक्षा की पाठ्यचर्या

स्वामी जी प्राचीन जीवन शैली और आश्रम व्यवस्था में विश्वास करते थे,

इसलिये उन्होंने कम से कम २५ वर्ष तक ब्रह्मचर्य-पालन और शिक्षा-ग्रहण करने की व्यवस्था दी है। उन्होंने बच्चे की शिक्षा के लिए अविधिक और सविधिक दोनों साधनों को उत्तरदायी ठहराया है। "मातृमान् पितृमानाचार्यवान् पुरुषो वेद।" 'शतपथ ब्राह्मण' के इस कथन में वे विश्वास करते हुए कहते हैं— "जब तीन उत्तम शिक्षक अर्थात् एक माता, दूसरे पिता और तीसरा आचार्य हो, तभी मनुष्य ज्ञानवान् होता है। वह कुल धन्य, है, वह सन्तान बड़ा भाग्यवान् है, जिसके माता-पिता धार्मिक और विद्वान् हैं।" उनके द्वारा प्रस्तावित समस्त पाठ्यचर्या को निम्नांकित शीर्षकों में रखा जा सकता है—

(अ) गर्भाधान काल : गर्भ स्थिति से जन्म तक

स्वामी जी के अनुसार बालक की शिक्षा गर्भाधान के समय से ही आरम्भ हो जाती है, इसलिए जन्म से पूर्व की शिक्षा का समस्त दायित्व प्रत्यक्ष रूप से माता और अप्रत्यक्ष रूप से परिवार पर है। वे कहते हैं—"प्रशस्ता धार्मिकी माता विद्यते यस्य स मातृमान्" अर्थात् धन्य है वह माता, जो गर्भाधान से लेकर शिक्षा की समाप्ति तक सुशीलता का उपदेश करती है।

गर्भाधान के पश्चात् माता को सात्त्विक भोजन और पुरुष के संसर्ग से दूर रह कर धर्माचरण करना चाहिए। बुद्धि, बल, रूप, आरोग्य, पराक्रम शांति आदि द्रव्यों का सेवन करना चाहिए।

(ब) शैशव काल : जन्म से ५ वर्ष तक

स्वामी जी के अनुसार इस काल में माता बच्चे के उचित लालन-पालन के साथ-साथ उसकी शिक्षा की व्यवस्था मुख्य रूप से स्वयं करे, किन्तु सम्पूर्ण परिवार सहयोगी हो। इस काल में स्वामी जी ने केवल उचित आदतों के निर्माण, शुद्धाचरण तथा भाषा विकास की शिक्षा को ही स्थान दिया है। माता बालक के शुद्धोच्चारण, सुन्दर एवं मधुर वाणी में वार्तालाप, उठने-बैठने एवं खड़े होने के उचित ढंग और आसन तथा व्यावहारिक आचरण पर विशेष ध्यान दे।

(स) पूर्व बाल्यकाल: ५ से ८ वर्ष तक

स्वामी जी ने इस काल की शिक्षा का दायित्व प्रत्यक्ष रूप से पिता और आचार्यकुल (पाठशाला) पर रखा। इस काल की पाठचर्या में उन्होंने देव नागरी तथा अन्य देशीय भाषाओं के वर्णों की शिक्षा; नीतिपरक, शिक्षाप्रद एवं ईश्वर से सम्बन्धित मन्त्र, श्लोक, सूत्र, गद्य एवं पद्य अर्थसहित कंठस्थ करने की शिक्षा, उचित एवं शुद्धोच्चारण की शिक्षा, विद्या और धर्म के विपरीत भ्रांति जाल में गिराने वाले धूर्तों के विरुद्ध उपदेश तथा भूत-प्रेतादि मिथ्या बातों के विरुद्ध उपदेश इत्यादि रखा है।

गुरुकुलीय पाठ्यचर्या अर्थात् ८ से २५ वर्ष तक की सविधिक शिक्षा योजना

स्वामी जी के अनुसार यह 'विद्याभ्यास काल' है। इस काल में उपनयन संस्कार के पश्चात् बालक-बालिकाओं की शिक्षा पाठशाला, आचार्य कुल अथवा गुरुकुल में होनी चाहिए। स्वामी जी ने इस काल की पाठ्यचर्या की विस्तृत रूप-रेखा तैयार की है, जिसे निम्नांकित वैकासिक चरणों में क्रमबद्ध किया जा सकता है :—

(द) उत्तर बाल्यकाल: ८ से १२ वर्ष तक

(१) ब्रह्मचर्य-पालन, (२) संध्योपासन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ, (३) प्राणायाम एवं योगाभ्यास, (४) देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, (५) गृह में माता-पिता द्वारा प्रदत्त शिक्षा की पुनरावृत्ति, (६) व्यवहार एवं आचरण की शिक्षा (७) पाणिनि कृत शिक्षा अर्थात् उच्चारण शास्त्र, (८) अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य अर्थात् व्याकरण।

(य) पूर्व किशोरावस्था : १२ से १५ वर्ष तक

(१) महर्षि यास्क कृत निघण्टु और निरुक्त अर्थात् वैदिक भाषा कोश (२) पिंगलाचार्य कृत छन्दोग्रन्थ अर्थात् छन्द:शास्त्र (३) मनुस्मृति, वाल्मीकि रामायण, तथा महाभारत के उद्योग पर्वान्तर्गत विदुरनीति आदि धर्म शास्त्र (४) ऋषि कृत व्याख्या सहित पूर्व मीमांसा, वैशेषिक, न्याय, योग, सांख्य और वेदांत अर्थात् षड्-दर्शन, परन्तु वेदांत दर्शन के पूर्व दश उपनिषद्-ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्य की शिक्षा।

(र) उत्तर किशोरावस्था: १५ से २१ वर्ष तक

(१) वेद—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, (२) चार ब्राह्मण—ऐतरेय, शतपथ, साम, गोपथ का स्वर, शब्द, अर्थ सम्बन्ध तथा क्रियासहित अध्ययन।

(ल) परिपक्वावस्था: २१ से २५ वर्ष तक

इस काल में स्वामी जी ने भौतिक दृष्टि से उपयोगी विषयों की विशेष शिक्षा के लिए पाठ्यक्रम प्रस्तावित किया है, जिसे प्रत्येक शिक्षार्थी अपनी रुचि एवं आवश्यकतानुसार चुनेगा—(१) चरक, सुश्रुत आदि ऋषि प्रणीत आयुर्वेद अर्थात् वैद्यक शास्त्र का अर्थ, क्रिया, शस्त्र छेदन, भेदन, लेपन, चिकित्सा, निदान, औषधि, पथ्य, शरीर, देश, काल और वस्तु के गुण सहित अध्ययन (२) अर्थशास्त्र अर्थात् राजनीति शास्त्र, विधि शास्त्र एवं प्रशासन (३) धनुर्वेद अर्थात् युद्ध विद्या एवं सैन्यशिक्षा (४) गान्धर्व वेद एवं नारद संहिता अर्थात् नृत्य, वाद्य एवं गान-

विद्या (५) अथर्ववेद अर्थात् विज्ञान एवं शिल्प विद्या (६) ज्योतिष शास्त्र एवं सूर्य सिद्धांत आदि अर्थात् अंकगणित, बीजगणित, भूगोल, खगोल और भूगर्भ शास्त्र (७) हस्तकला (८) यन्त्र कला आदि।

४—शिक्षण विधि

स्वामी जी ने शिक्षण विधि और अध्ययन विधि में कोई विशेष अन्तर नहीं किया है। उन्होंने इस क्षेत्र में प्रायः वैदिक विधियों का ही समर्थन किया है। उनके अनुसार उपदेश अथवा व्याख्यान विधि, निरीक्षण विधि, तर्क विधि, स्वाध्याय विधि और व्यावहारिक विधि आदि उपयोगी शिक्षण विधियां हैं। व्यावहारिक विधि से उनका तात्पर्य प्रायौगिक प्रशिक्षण से है, जो विविध कौशलों की शिक्षा में उपयोगी होता है। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' के तृतीय समुल्लास के अन्तर्गत पृ० ४१ पर 'तैत्तिरीय उपनिषद्' का प्रमाण प्रस्तुत करते हुए पठन-पाठन का नियम निर्धारित किया है—"(ऋतं ··) यथार्थ आचरण से; (सत्यं ·) सत्याचार से, (तपः···) धर्मानुष्ठान करते हुए, (दमः···) बाह्य इन्द्रियों को बुरे आचरणों से रोक कर, (शमः ·) मन की वृत्तियों को सभी दोषों से हटाकर, (अग्नयः···) आहवनीयादि अग्नि और विद्युत् को जान कर, (अग्निहोत्र···) अग्निहोत्र करते हुए, (अतिथयः···) अतिथियों की सेवा करते हुए, (मानुषं ··) मनुष्य सम्बन्धी व्यवहारों को यथायोग्य करते हुए, (प्रजा ··) संतान और राज्य का पालन करते हुए, (प्रजन···) वीर्य की रक्षा और वृद्धि करते हुए तथा (प्रजाति···) अपने संतान और शिष्य का पालन करते हुए पठन-पाठन करें।"

इसी प्रकार 'व्यवहारभानु' में 'विद्या किस प्रकार और किन-किन कर्मों से आती है? प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते है—"चतुर्भिः प्रकारैर्विद्योपयुत्ता भवति। आगमकालेन स्वाध्यायकालेन प्रवचनकालेन व्यवहारकालेनेति ॥" अर्थात् विद्या चार प्रकार से आती है—आगम, स्वाध्याय, प्रवचन और व्यवहार काल। इसी प्रकार विद्या प्राप्ति के लिए चार कर्म भी हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन और साक्षात्कार। वे इसी पुस्तक में आचार्य की शिक्षण रीति पर विचार करते हुए कहते हैं—"आचार्य समाहित होकर ऐसी रीति से विद्या और सुशिक्षा करे कि जिससे उसके (विद्यार्थी) आत्मा के भीतर सुनिश्चित अर्थ होकर उत्साह बढ़ता जाय। ······दृष्टांत, हस्तक्रिया, यन्त्र, कलाकौशल, विचार आदि से विद्यार्थियों के आत्मा में पदार्थ इस प्रकार साक्षात् करावें कि एक के जानने से हजारों पदार्थ यथावत् जानते जायें।"

५—अनुशासन एवं दण्ड

स्वामी जी ने अनुशासन के महत्त्व पर अधिक बल दिया है। वे आचार्य और अन्तेवासी (शिक्षार्थी) दोनों से अनुशासन में रहने की अपेक्षा करते थे। उनके

अनुसार असंयत जीवन व्यतीत करने वाले शिक्षार्थियों को दण्ड देकर उचित मार्ग पर लाना चाहिए। वे 'व्याकरण महाभाष्य' का उद्धरण—"सामृतैः पाणिभिर्घ्नन्ति गुरवो न विषोक्षितैः। लालनाश्रयिणो दोषास्ताडनाश्रयिणो गुणाः।" (अ० ८। १। ८) प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—'जो माता-पिता और आचार्य संतान और शिष्यों का ताड़न करते हैं वे उनको अमृत पिला रहे हैं और जो लाड़न करते हैं वे विष, क्यों कि लाड़न से सन्तान और शिष्य दोषयुक्त तथा ताड़न से गुणयुक्त होते हैं। सन्तान और शिष्य भी ताड़न से प्रसन्न और लाड़न से सदा अप्रसन्न रहा करें। परन्तु माता-पिता और आचार्य ईर्ष्याद्वेष से ताड़न न करें। वे ऊपर से भय और भीतर से कृपादृष्टि रखें।"

यही नहीं 'स्वानुशासन' (Self-discipline) के किए मनुस्मृति के आधार पर उन्होंने 'यम-नियमों' के महत्त्व को भी स्वीकार किया है। वे 'योगदर्शन' में वर्णित यम-नियमों को परिभाषित भी करते हैं—'अहिंसा' अर्थात् वैरत्याग, 'सत्य' अर्थात् सत्य मानना, बोलना और करना, 'अस्तेय' अर्थात् मन, वचन और कर्म से चोरी का त्याग, 'ब्रह्मचर्य' अर्थात् उपस्थेन्द्रियका संयम, 'अपरिग्रह' अर्थात् लोलुपता और स्वत्वाभिमान रहित होना आदि—ये पांच यम और 'शौच' अर्थात् स्नानादि से पवित्रता, 'सन्तोष' अर्थात् सम्यक् प्रसन्न होकर पुरुषार्थ करना, हानि-लाभ में शोक व हर्ष न करना, 'तप' अर्थात् कष्ट सहकर भी धर्मयुक्त कर्मों को करना, 'स्वाध्याय' अर्थात् पढ़ना-पढ़ाना, 'ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की भक्ति विशेष में आत्मा को अर्पित करना आदि—ये पांच नियम हैं। इस प्रकार, स्वामी जी कठोर अनुशासन और स्वानुशासन के पक्षपाती थे।

आचार्य और शिष्य—

स्वामी जी ने 'गुरु' शब्द को व्यापक और 'आचार्य' शब्द को संकुचित अर्थों में ग्रहण किया है। वे माता-पिता और आचार्य—तीनों को 'गुरु' मानते हैं—"माता-पिता और जो सत्य को ग्रहण करावे तथा असत्य को छुड़ावे, वह गुरु कहलाता है।" इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखते हैं—"जो वीर्यदान से लेकर भोजनादि कराकर पालन करता है, उसको अर्थात् पिता को 'गुरु' कहते हैं और जो अपने सत्योपदेश से हृदय का अज्ञानरूपी अन्धकार मिटाता है उसको अर्थात् आचार्य को भी 'गुरु' कहते हैं।" वे आचार्य शब्द को परिभाषित करते हैं—"जो श्रेष्ठ आचार को ग्रहण कराकर सब विद्याओं को पढ़ावे उसको आचार्य कहते हैं।" इसी प्रकार अन्यत्र भी लिखते हैं—"जो विद्यार्थी को अत्यन्त प्रेम से धर्मयुक्त व्यवहार को शिक्षा-पूर्वक विद्या देने के लिए तन, मन और धन से प्रयत्न करे, उसको आचार्य कहते हैं।" वे विद्यायुक्त धार्मिक आचार्य को ही स्वीकार करते

हैं—"जो अध्यापक पुरुष या स्त्री दुष्टाचारी हों, उनसे शिक्षा न दिलावें वरन् जो पूर्ण विद्यायुक्त और धार्मिक हों, वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं।"

उन्होंने 'शिष्य' के विषय में लिखा है—"शिष्य उसको कहते हैं जो सत्य शिक्षा और विद्या को ग्रहण करने योग्य, धर्मात्मा, विद्याग्रहण की इच्छा और आचार्य का सम्मान करने वाला हो।"

गुरु-शिष्य सम्बन्धों पर प्रकाश डालते हुए वे कहते हैं कि आचार्य सत्य ज्ञान का द्रष्टा होता है, उसके अभाव में सत्य का ज्ञान नहीं हो सकता है। इस लिए आचार्य और शिष्य में निकट का सम्बन्ध होना चाहिए। उनके अनुसार शिक्षार्थी गुरु से तभी कुछ सीख सकता है, जब वह सीखने के लिए जिज्ञासु हो, सत्य का पालन एवं शुद्धाचरण करता हो तथा एकाग्रचित्त से अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो। 'आचार्य के प्रति विद्यार्थी का कैसा व्यवहार हो ?" इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वे कहते हैं—"मिथ्या को छोड़कर सत्य बोले, सरल रहे, अभिमान न करे, आज्ञा-पालन करे, स्तुति करे, निन्दा न करे, नीचे आसन पर बैठे, ऊंचे न बैठे, शांत रहे, चपलता न करे। आचार्य की ताड़ना पर प्रसन्न रहे, क्रोध कभी न करे। जब आचार्य कुछ पूछे तो हाथ जोड़ कर, नम्र होकर उत्तर दे, घमण्ड से न बोले। जब वे शिक्षा करें, चित्त देकर सुने, ठट्ठे में न उड़ावे।" निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'शिक्षार्थी' को आचार्य के अनुशासन में रहना चाहिए तथा संयत जीवन व्यतीत करना चाहिए और आचार्य को भी शिक्षार्थी को पुत्रवत् समझ व्यवहार करना चाहिए।

७—शिक्षालय और उसका परिवेश

स्वामी जी के अनुसार विद्यालय एकांत स्थान में ग्राम या नगर से चार कोस दूर होना चाहिए। बालकों और बालिकाओं की पाठशाला दो कोस के अन्तर पर हों। बालकों के शिक्षालय में आचार्य, भृत्य और अनुचर आदि सभी पुरुष तथा बालिका-शिक्षालयों में सभी स्त्री ही हों। बालक-बालिकाओं के विद्यालयों में पाँच वर्ष के भी विपरीतलिंगी बालक-बालिका को प्रवेश नहीं करने देना चाहिए।

उनके अनुसार आचार्य, ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी को आठ प्रकार के मैथुन अर्थात् स्त्री व पुरुष के दर्शन, स्पर्शन, एकांत सेवन, वार्तालाप, विषयकथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय-ध्यान और संगत से दूर रखें, जिससे वे उत्तम विद्या, शिक्षा, शील, स्वभाव, शरीर और आत्मा से बलयुक्त हो सकें।

शिक्षार्थियों को माता-पिता से मिलने तथा उनसे पत्राचार पर प्रतिबन्ध होना चाहिए, ताकि वे सांसारिक चिंता से दूर रहकर केवल ज्ञानार्जन की ही चिंता पर ध्यान दें। शिक्षार्थियों के शैक्षणिक भ्रमण के साथ आचार्य को अवश्य रहना चाहिए, ताकि वे कुचेष्टा, आलस्य और प्रमाद न करें।"

८—नारी शिक्षा

स्वामी जी का विश्वास था कि जहां नारी की पूजा होती है, वहां देवता निवास करते हैं। उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों और रूढ़ियों के विरुद्ध आवाज उठायी और अथर्व वेद के एक मन्त्र (ब्रह्मचर्य्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।। कां० ११ । प्र० २४ । अ० ३ । मं० १८) के आधार पर सिद्ध किया कि स्त्रियों को भी ब्रह्मचर्य सेवन से वेदादि शास्त्रों को पढ़कर पूर्ण युवावस्था में अपने सदृश पूर्ण युवावस्थायुक्त विद्वान् पुरुष को प्राप्त करने का अधिकार है। यही नहीं, श्रौत सूत्र के एक मन्त्र (इमं मन्त्रं पत्नी पठेत्) के आधार पर उन्होंने यह भी बताया कि प्राचीन भारत की नारियां वेदादि शास्त्रों को पढ़ती रही हैं तथा यज्ञ में सस्वर मन्त्रों का उच्चारण और आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत में भाषण करती रहीं हैं। 'शतपथ ब्राह्मण' में विदुषी गार्गी का उल्लेख है, इस लिए उन्होंने नारी शिक्षा की अनिवार्यता घोषित की।

उन्होंने स्त्रियों को पुरुषों की भांति ही शिक्षा देने को कहा है; किन्तु ब्राह्मणी और क्षत्रिया को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। इसके अतिरिक्त पुरुषों के समान व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या आदि भी सीखनी चाहिए, क्योंकि व्याकरण से सत्यासत्य का निर्णय, संतान-पालन और उनकी शिक्षा; वैद्यक शास्त्र में औषधवत् अन्न-पान बनाना और बनवाना; शिल्प विद्या से गृह, वस्त्र और आभूषण आदि बनाना और बनवाना; गणित विद्या से हिसाब-किताब समझना-समझाना तथा वेदादिशास्त्र से ईश्वर और धर्म को जानना आदि संभव है।

९—उदार जनशिक्षा

स्वामी जी उदार जनशिक्षा के समर्थक थे। उन्होंने सभी वर्णों की शिक्षा के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"जब सब वर्णों में विद्या, सुशिक्षा होती है, तब कोई पाखण्ड रूप अधर्म युक्त मिथ्या व्यवहार को नहीं चला सकता।......इस लिए सब वर्णों के स्त्री-पुरुषों में विद्या और धर्म का प्रचार होना चाहिए।"

उन्होंने द्विजों के अतिरिक्त शूद्रों को भी वेदादिशास्त्र पढ़ने तथा ग्रहण करने का अधिकार दिया और इसे वेदसम्मत बताया। इसके लिऐ यजुर्वेद के अध्याय २६, मन्त्र २ (यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः। ब्रह्मराजन्याभ्यांँशूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय) की उन्होंने स्पष्ट व्याख्या की—"परमेश्वर कहता है कि हमने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, और अपने भृत्य, स्त्रियादि और शूद्रादि के लिए भी वेदों का प्रकाश किया है, अर्थात् सब मनुष्य वेदों को पढ़-पढ़ा और सुन-सुना कर विज्ञान को बढ़ाकर अच्छी बातों का ग्रहण और बुरी बातों का त्याग करके दुःखों से छूटकर आनन्द को प्राप्त हों।"

१०—अनिवार्य शिक्षा और शासन

स्वामी जी अनिवार्य शिक्षा के पक्षपाती थे। वे प्रत्येक माता-पिता का कर्त्तव्य मानते थे कि वे अपने बच्चों की शिक्षा का प्रबन्ध करें। जो अभिभावक ऐसा नहीं करते हैं उनको वे बच्चों का शत्रु कहते हैं। इस विषय में उन्होंने 'चाणक्यनीति' के अध्याय २ का ११वां श्लोक (माता शत्रुः पिता वैरी येन बालो न पाठितः। न शोभते सभामध्ये हंसमध्ये वको यथा) का प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट लिखा है—"वे माता और पिता अपने सन्तानों के पूर्ण वैरी हैं जिन्होंने उनकी विद्या की प्राप्ति न कराई, वे विद्वानों की सभा में वैसे तिरस्कृत और कुशोभित होते हैं जैसे हंसों के बीच बगुला।"

उन्होंने 'मनुस्मृति' के अध्याय ७, श्लोक १५२ (कन्यानां सम्प्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम्) के आधार पर सिद्ध किया कि बालक-बालिकाओं को ब्रह्मचर्य में रख कर विद्वान् और शिक्षित कराने का उत्तरदायित्व राजा (शासक) पर है। शासन की आज्ञा हो कि आठ वर्ष पश्चात् कोई भी अभिभावक अपने लड़के अथवा लड़की को घर में न रखकर आचार्य कुल में रखे तथा समावर्तन (दीक्षांत) के पश्चात् ही उनका विवाह करें। वे इस सम्बन्ध में एक अन्य स्थान पर स्पष्ट 'विधान' अर्थात् ऐक्ट की बात भी लिखते हैं। इसमें राजनियम और जातिनियम होना चाहिए कि पांचवें अथवा ८ वें वर्ष से आगे कोई भी अपने लड़के और लड़कियों को घर पर न रख सके। पाठशाला में अवश्य भेज देवें, जो न भेजे वह दण्डनीय हो।

११—निःशुल्क शिक्षा एवं अवसर की समानता

स्वामी जी उदार जनशिक्षा और अनिवार्य शिक्षा के समर्थक होने के साथ ही साथ निःशुल्क शिक्षा के भी पोषक थे। उन्होंने बालक और बालिकाओं की अनिवार्य शिक्षा का उत्तरदायित्व पूर्णरूपेण शासक और शासन पर सौंपा है, इस लिए शासक और शासन का यह स्वाभाविक कर्त्तव्य हो जाता है कि वे राष्ट्र के सभी बालक-बालिकाओं के लिए निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध करें और उन्हें शिक्षा में अवसर की समानता भी उपलब्ध हो। वे इस सम्बन्ध में पाठशाला और उसकी व्यवस्था पर विचार करते हुए लिखते हैं—"सब को तुल्य वस्त्र खान-पान और आसन दिए जांय—चाहे वे राजकुमार अथवा राजकुमारी हों, चाहे दरिद्र के सन्तान हों।"

१२—कुछ अन्य विचार

(अ) धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा

स्वामी जी धर्म-शिक्षा के बिना सम्पूर्ण शिक्षा को अधूरी मानते थे। उनके अनुसार आचरण से ही धर्म होता है (आचारः परमो धर्मः) इस लिए उन्होंने अपनी शिक्षा-योजना में सर्वत्र शिष्टाचार और धर्माचरण पर बल दिया है।

(ब) व्यावसायिक शिक्षा—

स्वामी जी भौतिक जीवन और व्यावहारिक जीवन की सफलता हेतु इस शिक्षा के महत्त्व को स्वीकार करते थे, किन्तु उन्होंने इसका क्षेत्र प्राचीन-चिकित्सा पद्धति, शिल्प एवं यन्त्र कला तथा अन्य कला-कौशलों तक ही सीमित रखा।

(स) सह शिक्षा का विरोध

स्वामी जी सहशिक्षा के कट्टर विरोधी थे, इसलिए उन्होंने बालकों और बालिकाओं के लिए अलग-अलग विद्यालय स्थापित करने की बात कही है, जो नगर या ग्राम से पांच मील दूर हों तथा दोनों में चार मील का अन्तर हो।

१३—महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज का शिक्षा में योगदान

स्वामी जी ईश्वरवादी थे और मूर्तिपूजा के विरोधी थे। उन्हें कपोल-कल्पित बातों से चिढ़ थी। उन्होंने धार्मिक अन्धविश्वासों और सामाजिक कुरीतियों को जड़मूल से विनष्ट करने का बीड़ा उठाया, इसके लिए उन्होंने शिक्षा में सुधार करने और भारतीय शिक्षा पद्धति को पुनर्गठित करने का प्रयत्न किया, इसी लिए वे प्राचीन भारतीय शिक्षा-दर्शन के महान् अन्वेषक एवं विचारक भी कहे जाते हैं। उनके द्वारा निश्चित शिक्षा-उद्देश्य आज भी उपयोगी हैं। उनके शैक्षिक विचार आज अधिक व्यावहारिक बनाये जा सकते हैं, यदि उनके पाठ्यक्रम का पुन गठन किया जाय। उन्होंने डूबते भारत को चेतना एवं जीवन दिया। हम उनके चिर ऋणी रहेंगे। सुप्रसिद्ध इतिहासकार सर यदुनाथ सरकार के शब्दों में—"जब भारत के उत्थान का इतिहास लिखा जायेगा तो नंगे फकीर दयानन्द सरस्वती को उच्चासन पर बिठाया जायेगा।"

महर्षि दयानन्द द्वारा स्थापित आर्यसमाज का शिक्षा में योगदान कम महत्त्व-पूर्ण नहीं है। आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षण संस्थाओं ने अविद्या के नाश और विद्या के प्रचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। आज आर्यसमाज और उसकी शिक्षण संस्थाएं केवल भारत में ही नहीं अपितु विश्व के अनेक देशों में फैली हैं। भारत में आर्य शिक्षण संस्थाओं की संख्या इस प्रकार है—(१) ४००० आर्य (हरिजन) पाठशालाएं, (२) २००० आर्य प्राथमिक पाठशालाएं, (३) ३०० संस्कृत पाठशालाएं, (४) २००० जूनियर माध्यमिक विद्यालय (५) ५०० कालेज तथा उच्चतर माध्यमिक विद्यालय (६) १२ प्राविधिक शिक्षण संस्थान (७) ८० गुरुकुल (८) अनेक शिशु विद्यालय इत्यादि।
